ISSN : 2583-2948

संपादकीय

भाषा व्यक्तित्व और समाज की पहचान कराती है। किसी से वार्तालाप के दौरान, उसकी बोली और भाषा से बहुधा उसकी प्रांतीयता और सामाजिक परिवेश का पता सहज ही लागाया जा सकता है। भाषा ही है जो हमारे संस्कार का प्रतिनिधित्व करती है और योग्यता, सहजता, सरलता, तथा आत्मीयता का परिचायक बनती है। भाषाओं की भी अपनी आत्मा होती है। इस संदर्भ में नन्ददुलारे वाजपेई जी ने लिखा कि – " भाषा केवल हमारे भावों तथा विचारों का वाहन नहीं है, जो ठोंक – पीटकर सर्व समय काम में लाई जा सके। उसका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व और वातावरण भी होता है। हमारी ही तरह उसकी भी शक्ति, इच्छा और संस्कार होते हैं। समय के परिवर्तनशील पटल पर उसकी भी अनेक प्रकार की आकृतियाँ बनती रहती हैं।" इसे कभी भी किसी पर थोपा नहीं जा सकता। यह सत्य है कि जितनी अधिक भाषाओं से हमारा परिचय होगा हमारी बौद्धिक प्रांजलता उतनी ही प्रखर होगी, परंतु जोरजबर्दस्ती से भाषा सीखने को बाध्य करना, लोगों में मानसिक आतंक भरना – भंजक का कार्य करती हैं, जबकि भाषाएँ योजक होती हैं। भारत के कई राज्यों में भाषायी अस्मिता और प्रतिस्पर्धा का संघर्ष निरंतर देखने को मिलता है। दूर से इसे देखने और समझने वालों के जेहन में यह दुर्विचार आना स्वाभाविक है कि वहाँ की जनता वास्तव में उदण्ड और क्रूर है जो अपनी भाषा को थोपना चाहती है परंतु वास्तविकता यह है कि – जितने भी खद्दरधारी जनता सेवक हैं वे अपनी कुर्सी की गरिमा और उसकी आभा को अधिक विस्तृत करने के लिए जनता को माध्यम बनाते हैं और उस कुटिल चक्रव्यूह में स्वल्पसाक्ष्य जीवन व्यतीत करने वाले आमजन प्रतिभागी बन जाते हैं। विगत कुछ महीनों से बंगलोर में भी बड़ी बड़ी स्थापित कंपनियां भी इसकी भुक्तभोगी बनी हैं। देश के विकास के लिए असंख्य कार्य हैं यथा – शिक्षा, बेरोजगारी, स्त्री सुरक्षा, मानवता और संस्कार संवर्धन, प्राकृतिक संरक्षण, वैज्ञानिकता, योगा – चिकित्सा, परिवेश स्वच्छता, ग्रामीण विकास आदि। बावजूद इसके इन सभी आवश्यकताओं को परे रखकर भाषा के माध्यम से सत्ता और लाइमलाइट में बने रहने की प्रवृत्ति देश के विकास के लिए घातक है। नागरिकों को चाहिए कि वे भावावेश से दूर रहकर, उचित और अनुचित को परखते हुये सही निर्णय लें और देश को विकासशील से विकसित बनाने में अपना योगदान दें।

डॉ अनुपमा तिवारी
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी